गा० ओ० सी० बरोदा से प्रकाशित है।

अभिनवगुप्त द्वारा व्याख्यात रसस्वरूप को प्रस्तुत करने के पूर्व उनके द्वारा आलोचित पूर्वप्रचलित मतों को जान लेना आवश्यक है। लोचन में उन्होंने रस के विषय में प्रचलित निम्न मतों की ओर संकेत किया है—

१. अनुकार्य में रहने वाले स्थायीभाव से विभावादि का संयोग होने से परिपुष्ट स्थायीभाव ही रस कहा जाता है। रस प्रधानतया अनुकार्य रामादि में रहता है, अनुसन्धान-बल से गौणतया नटादि में भी। यह प्रथम मत लोल्लट का है।

२. अनियत अवस्थारूप स्थायी को उद्देश्य कर विभावादि से संयुक्त यह 'राम सुखी है' इस प्रकार की स्मृति से विलक्षण आस्वादरूप प्रत्यक्षात्मक स्थायी की प्रतीति ही रस है। यह प्रतीति नाट्यमात्र पर आधारित है इसलिए वह इससे अतिरिक्त अन्य किसी भी आधार की अपेक्षा नहीं करती। अनुकार्य से अभिन्न रूप में प्रतीत होने वाले नट में सामाजिक रस का आस्वाद करता है। इसलिए रस नाट्य में ही रहता है, अनुकार्य आदि में नहीं।

३. अभिनयादि सामग्रीजन्य जो स्थायी का अनुकर्ता में आभास होता है वह हरिताल आदि से मिश्रित भित्तिस्थ अश्वाभास के समान है। अलौकिक आस्वादरूप प्रतीति से रस्यमान वही नाट्यावलम्बित होने के कारण नाट्य-रस कहा जाता है। वस्तुतः (२) तथा (३) मत आचार्य शङ्कुक से सम्बन्ध रखता है।

४. विशिष्ट सामग्री से समर्प्यमाण विभाव-अनुभाव ही रस है। यहाँ विभावनी तथा अनुभावनीय स्थायीरूप चित्तवृत्ति के उपयुक्त वासना से वे अनुषक्त रहते हैं। विभाव-अनुभाव से ही यहाँ सामाजिक को चर्वणाविशिष्ट स्वानन्दानुभूति होती है।

५. कुछ लोग शुद्ध अनुभाव को, कुछ लोग शुद्ध विभाव को और कुछ स्थायीमात्र को तथा अन्य व्यभिचारी को, कुछ लोग इनके संयोग को और कुछ लोग अनुकार्य को तथा अन्य लोग इन पूरे के समुदाय को रस कहते हैं। रस स्वशब्दवाच्य होता है। संख्या ४–५ का मत संभवतः प्राचीन आचार्यों एवं उद्भट से सम्बन्धित है।

६. रस न प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न ही अभिव्यक्त होता है, प्रत्युत् अभिधा, भावना तथा भोगीकरण-व्यापार-से भुज्यमान रसिक से आस्वाद्य ब्रह्मास्वादसहोदर अलौकिक रस है। यह मत भट्टनायक का है।

७. अभिनवभारती में उन्होंने सांख्यों का भी मत दिया है।

८. स्वयं उनका अभिमत रसस्वरूप। इनमें से प्रायः सभी व्याख्यात हो चुके हैं, केवल अन्तिम उनका अभिमत रस-स्वरूप रखना है। यद्यपि अभिनवगुप्त ने अन्य मतों को खण्डन की दृष्टि से उपात्त किया है, किन्तु उनका कहना है कि प्राचीन मतों का संशोधन ही मेरा कल्प है न कि उनका खण्डन, क्योंकि पूर्व प्रतिष्ठित योजनाओं में ही मूल प्रतिष्ठा का फल पाया जाता है—

'तस्मात् सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति ॥' अ० भा०।

इसलिए अभिनव ने भट्टनायक के कतिपय अंशों का खण्डन करते हुए भी उसके कतिपय अंशों को सामान्य परिवर्तनपूर्वक स्वीकार भी कर लिया है।

भट्टनायक की युक्तियों का खण्डन करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि रस का स्वगत-परगत का जो विवेचन है अर्थात् रस परगत ही होता है स्वगत नहीं, यह दूषण तो भट्टनायक आदि के ही पक्ष में हो सकता है, अभिव्यक्ति पक्ष में नहीं। खण्डन-विधि 'लोचन' की अधिक स्पष्ट है अतः उसे ही लिया जाय। 'नोत्पद्यते रसः' का पक्ष तो शङ्कुक के खण्डन से ही दूषित हो जाता है, अतः उसके स्वीकार की बात ही नहीं उठती। किन्तु रस प्रतीत नहीं होता यह कैसे कहा जा सकता है (प्रकारान्तर से यह शंकुक के मत का शोधन है)। रस की प्रतीति सभी पक्ष में अपरिहार्य है। अप्रतीत रस को पिशाच की भाँति क्या कहा जा सकेगा? यह आपका 'भोग' इस संसार में प्रतीति आदि से व्यतिरिक्त है क्या? समझ में नहीं आता। यदि कहें कि यह रसना है तो वह भी तो प्रतिपत्ति ही है। वस्तुतः जिस प्रकार प्रतीतिमात्र सामान्य होने पर भी उपायों की विलक्षणता के कारण प्रत्यक्ष-जन्य, अनुमान-जन्य, आगमोत्थ, प्रतिभानकृत भोगिप्रत्यक्षजा आदि विभिन्न प्रतीतियाँ होती हैं वैसे ही उपायवैलक्षण्य से यह नामान्तर है प्रतीति का ही—प्रतीति, चर्वणा, आस्वाद, भोग आदि। क्योंकि इस प्रतीति के, जो कि हृदय-संवादी होती है, कारण विभावादि लोकोत्तर होते हैं। अतएव यह प्रतीति भी लोकोत्तर होती है।

भट्टनायक की आपत्ति है कि रस अभिव्यक्त नहीं होता। अभिव्यक्त वस्तु को पूर्व से सिद्ध होना चाहिए, किन्तु रस के लिए ऐसी कोई बात नहीं है। अभिनव का कहना है कि जो यह कहा जाता है कि 'रस प्रतीत हो रहा है' यह वैसे ही है जैसे 'ओदनं पचति।' पकाया जाता है चावल किन्तु कहा जाता है 'भात पका रहा' है। भात निष्पन्न नहीं हुआ रहता, फिर भी उसके लिए उसका प्रयोग होता है, यही बात रस के लिए भी है। यह तो लोचन की बात हुई। संसार की हर वस्तु दो ही प्रकार की होती है निष्पन्न या अभिव्यक्त। आप दोनों ही नहीं मानते, तो रस को या तो नित्य माना जाये या असत्, कोई तीसरी गति नहीं। अप्रतीत कोई भी वस्तु व्यवहार के योग्य नहीं होती। यदि यह कहें कि रस की प्रतीति भोगीकरण ही है, और वह है रत्यादिस्वरूप। इतने से भी समस्या सुलझती नहीं, क्योंकि तब तो जितने भी रस हैं उतनी ही भोगीकरण-रूप रसनात्मक प्रतीतियाँ माननी होंगी। और भी, सत्वादिगुणों के अंगांगीभाव से अनेक वैचित्र्य की कल्पना करनी पड़ेगी। आपके केवल तीन व्यापारों से ही काम नहीं चलेगा।

भट्टनायक जो यह कहते हैं कि 'काव्य से रस भावित होते हैं' तो यह तो भट्टलोल्लट की उत्पत्तिपक्ष का ही स्वीकार है, क्योंकि उसका अर्थ ही होता है कि काव्य रसों का भावक है। यह भावकत्व केवल शब्दों से नहीं होता, क्योंकि बिना अर्थ जाने भावकत्व-प्रतीति ही नहीं होगी। केवल अर्थों का भी वह भावकत्व नहीं हो सकता और यदि दोनों के योग में यह भावकत्व है तब तो उसे हमने ध्वनिवादी ने 'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः' के द्वारा बता दिया है। इसलिए यदि विभावादि से उत्पन्न चर्वणारूप आस्वादात्मक प्रतीति-गोचरता ही 'भावना' है तब तो उसे हम स्वीकार करते ही हैं।

वह है व्यञ्जना। आपके विवेचन में कोई नवीनता नहीं है। समुचित गुणालङ्कार के द्वारा भावक काव्य के द्वारा विभावादि का साधारणीकरण होता है यह भट्टनायक मानते हैं। व्यञ्जनावादी कहता है, यह कार्य तो व्यञ्जना से ही हो जाता है, 'भावना' नवीन व्यापार मानने की आवश्यकता नहीं। और जो लोकोत्तर 'भोग' व्यापार आप मानते हैं वह भी 'ध्वनन' व्यापार से अतिरिक्त नहीं है। 'लोकोत्तर आस्वाद' जिसे भट्टनायक हृदय के द्रुति-विस्तार एवं विकास का रूप मानकर अज्ञानावरण की समाप्ति से एकघन आनन्दप्रकाश आत्मास्वाद सविध मानते हैं, ही भोग-व्यापार है। यह रसभोग रसना व्यापारजन्य चमत्कार है, जो ध्वनन व्यापार से ही संभव है।

भट्टनायक का यह कहना कि सीता-रामादि लोकोत्तर पुरुषों का सबसे हृदय-संवाद नहीं संभव है; यह कहना भी अयुक्त है; क्योंकि चित्त अनेक प्रकार की विशिष्ट वासनाओं से युक्त होता है। वासना अनादि है। इसलिए काव्य आदि का अनुशीलन करते समय पाठक का हृदय रामादि की उन वासनाओं से वासित हो जाता है। अतएव हृदय-संवाद को असंभव नहीं कहा जा सकता। भट्टनायक के मत का यह खण्डन अभिनवभारती एवं लोचन दोनों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। रस प्रतीत होता है। प्रतीति रसना है। वह वाच्यवाचक से व्यतिरिक्त व्यञ्जनात्म ध्वनन-व्यापार है। भोगीकरण एवं भावकत्व व्यापार दोनों इससे विशिष्ट नहीं हैं, एतद्रूप ही हैं।

अभिनवगुप्त ने रस-विवेचन भरत के सूत्र 'काव्यार्थान् भावयन्ति इति भावाः' सूत्र से प्रारम्भ किया है। रस ही काव्य का अर्थ है। काव्य का अनुशीलन करने वाला अधिकारी पाठक काव्य के केवल वाच्यार्थ की कामना से नहीं पढ़ता है प्रत्युत् वह उससे अधिक कुछ और की चाह रखता है। कुछ और की चाह सबको समानरूप से नहीं होती। इसका अधिकारी विमल प्रतिभा से युक्त हृदय वाला सहृदय ही हो सकता है। जिसे शाकुन्तल के 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्' या कुमारसंभव के 'उमापि नीलालक' आदि वृत्तों को पढ़ने के बाद वाक्यार्थ-प्रतीति के अनन्तर 'दुष्यन्त आदि प्राचीन नृप से अनुस्यिमाण मृगादि का परिहार हो जाने से देश-काल-पात्र आदि की सीमा के अवसान से मानसी साक्षात्कारात्मक प्रतीति उत्पन्न होती है। तथाकथित मृग के वृत्तान्त-ज्ञान के बाद केवल भय ही सहृदय के मन में प्रविष्ट होता हुआ, आँखों में छलकता हुआ निर्विघ्नतया प्रतीत होता है। ऐसी प्रतीति में सहृदय की आत्मा भी तिरस्कृत नहीं होती और न ही विशेषरूप से उल्लिखित होती है। यह एक असीमित साधारणीभाव होता है। काव्य में यह मानस-साक्षात्कार होता है।

नाट्य में इसका परिपोष नटादि सामग्री से होता है। नाट्य में भी साधारणीभाव होता है। साधारणीकरण के ही कारण सभी सामाजिकों को एकघन रस की प्रतीति होती है; क्योंकि सभी के चित्त अनादि वासना से वासित होते हैं। अतएव नाट्य में भी उनकी वासना का रामादि की वासना से संवाद हो जाता है। अतएव सभी सामाजिक को रस-प्रतीति एकसमान एवं निर्विघ्न होती है। और रस का जो

यह मानस-साक्षात्कार होता है उसे अध्यवसाय, संकल्प, स्मृति आदि किसी भी शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है। उदाहरण के लिए कालिदास के इस प्रसिद्ध श्लोक में—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावास्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥

यहाँ लोकोत्तर स्मृति का महाकवि ने स्वरूप दिखाया है। सुखी भी प्राणी जो रमणीय वस्तु को देखकर या मधुर शब्दों को सुनकर उत्कण्ठित हो उठता है उसका कारण क्या है। निश्चय ही वह पहले कभी भी अनवबोधित जन्मान्तर के सौहार्द का स्मरण करता है; क्योंकि भावस्थिर होते हैं। यहाँ जो स्मृति प्रदर्शित की गयी है वह कोई तार्किक की स्मृति नहीं है प्रत्युत् अलौकिक है। न्याय में पूर्वानुभूत वस्तु की ही स्मृति मानी जाती है किन्तु यह तो अबोधपूर्ण है। यह साक्षात्कारात्मक प्रतिभान का अपर रूप है। यह सर्वथा आस्वाद्य है जिसमें रति ही प्रतिभासित होती है। रसनीय यह रति न लौकिकी, न मिथ्या, न अनिर्वाच्य, न लौकिकतुल्य और तदारोपरूप है प्रत्युत् इन सबसे विलक्षण लोकोत्तर है। इसके उपचयावस्था में नियत देश-काल आदि का परिहार हो जाता है अतएव अनुकार भी कह सकते हैं; क्योंकि लौकिक भावों का अनुकरण भी होता है। विज्ञानवादियों की दृष्टि से इसे बाह्य विषय-सामग्री भी कह सकते हैं, किन्तु यह निर्विवाद है कि निर्विघ्न रसनात्मक प्रतीति से ग्रहण किया जाने वाला भाव ही रस है। वहाँ विघ्न को दूर करने वाले विभाव आदि होते हैं। लोक में संपूर्ण विघ्नों से रहित प्रतीति ही, चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोगसमापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि शब्दों से कही जाती है। इस प्रतीति में रस के सात विघ्नों का तथा उनके दूरीकरण का स्वरूप भी अभिनव ने प्रदर्शित किया है, ग्रन्थ में ही द्रष्टव्य है।

आगे उन्होंने प्रतिपादित किया है कि रस सभी सुखप्रधान हैं, आनन्द रूप हैं; क्योंकि स्वसंविद् चर्वणारूप एकघन प्रकाश आनन्दरूप है। शोकानुभूति में भी हृदय की विश्रान्ति पायी जाती है। इसलिए सभी रसों का स्वरूप है, आनन्द—इत्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्। स्थायी के विषय में उनका अभिमत है कि उत्पन्न जीव इतने ही संस्कारों से युक्त होता है। १. दुःख-संपर्क से विद्वेष करने वाला सुख के आस्वाद की इच्छा रखता है। इस प्रकार सभी रमण की इच्छा से व्याप्त होते हैं, रतियुक्त होते हैं। अपने में उत्कर्ष का अभिमान रखने के कारण दूसरे का उपहास करता है—हासभाव। अभीष्ट लाभ न होने से पीड़ित होता है—शोक। उस वियोग के कारणों से क्रुद्ध होता है—क्रोध और अशक्त होने से भीरु होता है—भय। कुछ प्राप्त करने की इच्छा रखता है—उत्साह और कभी-कभी अनुचित वस्तु के प्रति विमुखता से भर जाता है—जुगुप्सा। उन-उन अपने तथा दूसरों के अद्भुत कार्यों से चकित होता है—

विस्मय तथा कुछ त्याग करने की प्रवृत्ति से युक्त होता है—निर्वेद। प्राणी इन चित्त-वृत्तियों से शून्य नहीं होता। यह वासना रूप हैं। केवल किसी को अधिक, किसी को न्यून रूप में रहती हैं। व्यभिचारी भावों के विषय में उनका कहना है कि ये तो समुचित विभावादि के अभाव में उत्पन्न भी नहीं होते। प्रत्युत् ये स्थायी रूप चित्तवृत्ति से ही अनुस्यूत होते हैं। समय-समय पर आविर्भूत-तिरोहित होते रहते हैं। विभावादि रत्यादि के उद्बोधक होते हैं। किन्तु उनके अभाव में वे सर्वथा असत् नहीं होते; क्योंकि प्राणियों की वासना ही तन्मय होती है। व्यभिचारी भावों की तो अपने विभाव के अभाव में नाम मात्र की भी स्थिति नहीं होती। यही स्थायी एवं व्यभिचारी भावों का अन्तर है और अन्त में अभिनव ने अपना अभिमत रसस्वरूप उपस्थित किया है।

लोक में व्यक्ति देखता है कि कोई व्यक्ति किसी में अनुरागयुक्त है तो उसका कारण, कार्य, या सहचर रूप लिङ्ग क्या है? इस प्रकार निरन्तर के अभ्यास से स्थायी रूप परचित्त की वृत्ति के अनुमान में पटुता आ जाती है। इसके कारण हैं वे लिङ्ग जिन्हें वह निरन्तर व्यवहार में देखता है। काव्य-पाठ या नाट्यदर्शन के समय वे ही प्रमदा, उद्यान, आदि कारण, कटाक्ष, वीक्षण, आदि कार्य तथा धीरता आदि अन्य तत्त्व प्रत्यक्ष दिखायी पड़ते हैं। किन्तु इस समय ये लौकिक रूप में उपस्थित नहीं होते न कारणादि रूप में। अतएव इनकी कारणत्वादि भूमिका समाप्त हो जाती है। इनका रूप है विभावन, अनुभावन एवं उपरञ्जन। अतएव ये अलौकिक एवं अन्वर्थ संज्ञाओं से युक्त हो जाते हैं। लोक में जो रत्यादि के कारण-कार्य-सहचारी होते हैं, उनका जो रूप होता है काव्य पढ़ने या नाटक देखते समय, उनका वही रूप नहीं होता वहाँ वे कारण रूप होते हैं। अतएव केवल उनके प्राच्य संस्कार को ख्यापित करने के लिए ही इन्हें विभावादि नाम से व्यपदिष्ट किया जाता है। इन अलौकिक विभावादि का सामाजिक की बुद्धि से तरतम भाव से सम्यक् योग या यों कहें ऐकाग्र्य हो जाता है। सामाजिक की चित्तवृत्ति से एकाग्र हुए ये अलौकिक विभावादि ही निर्विघ्न प्रतीतिरूप, चर्वणागोचरीभूत उस रस को व्यञ्जित करते हैं, चर्वणा ही जिसका सार है। यह सिद्ध रूप भी नहीं है घटादि की भाँति, तात्कालिक ही है। अर्थात् विभावादि के योग के समकाल ही रहने वाला है। चर्वणाकाल से अधिक समय तक नहीं रहता। इस प्रकार वह स्थायी से विलक्षण है। इसलिए जैसा कि शंकुक आदि ने कहा है विभावादि से ने अनुमेय (प्रत्याय्य) स्थायी ही रस्यमान होने के कारण रस कहा जाता है, ठीक नहीं है। स्थायी को ही यदि रस कहा जाय तो लौकिक प्रयोग में भी स्थायी को ही रस मानना होगा। जब अविद्यमान स्थायी जो कि नट में रहता नहीं है को ही रस बताते हैं तो फिर लोक में तो वह वर्तमान है क्यों न उसे रस कहा जाय? अतएव विभावादि से स्थायी की प्रतीति शुद्ध अनुमिति मात्र है, रस नहीं। इसलिए सूत्र में भरत मुनि ने 'स्थायी' का उल्लेख नहीं किया। जो यह कहा जाता है कि 'स्थायी रसीभूतः' वह केवल औचित्य वश है, लोक-व्यवहार में दृष्ट होने के कारण हैं।

रस की यह चर्वणा लोकोत्तर है स्मृति आदि से विलक्षण। विभावादि के संयोग

पूर्व नहीं होती अतएव उसे स्मृति नहीं कहा जा सकता और इसे लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाण रूप भी नहीं कहा जा सकता। यह प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान आदि लौकिक प्रमाणों से उपलब्ध रत्यादि बोध से तथा योगियों के प्रत्यक्ष ताटस्थ्यपरक संवेदनात्मक ज्ञान और सकल विषयोपरागशून्य आनन्द मात्र विश्रान्त परिमितेतर शुद्ध योगी के एकमात्र आनन्दघनरूप अनुभव से भी विलक्षण एवं लोकोत्तर होता है तथा अलौकिक विभावादि का जो चर्वणा में उपयोग होता है वह अलौकिक ही है और प्रतीति तात्कालिक। अतएव इसे ज्ञप्ति भी नहीं कह सकते। संसार की हर एक उत्पन्न वस्तु ज्ञप्ति या निष्पत्ति रूप ही होती है और रस प्रतीति या चर्वणा इन दोनों से अतिरिक्त होने के कारण अलौकिक ही है। कहा जा सकता है सूत्र में निष्पत्ति पद क्यों रखा है आचार्य ने ? यह निष्पत्ति रस की नहीं, प्रत्युत् तद्विषयक रसना या चर्वणा की है। क्योंकि रस तन्मात्रजीवन है। वह रसना न तो प्रमाण का व्यापार है न कारक। स्वसंवेदन सिद्ध होने से स्वयं भी अप्रामाणिकी नहीं है। यह रसना बोध-रूप ही है किन्तु लौकिक बोध से विलक्षण। क्योंकि उसके उपाय विभावादि अलौकिक होते हैं। इसलिए चूँकि विभावादि के योग से रसना की निष्पत्ति होती है अतः उस प्रकार की रसना का गोचरीभूत लोकोत्तर पदार्थ ही रस है, यह भरत सूत्र का भाव है।

प्रश्न उठता है कि रामादि तो प्राचीन व्यक्ति हैं। नट उनका अभिनय करता है, फिर रस का बोध या तथाकथित साधारणी भाव कैसे हो सकता है ? उत्तर है कि रामादि की वेश-भूषा से नटत्व की प्रतीति बाधित हो जाती है। तथापि प्राक्तन-संस्कार के गहरे होने के कारण काव्य-बलात् प्राप्त करायी गयी भी रामादि की बुद्धि उसमें ठहरती नहीं। अतएव दोनों के कालादि का परिहार हो जाता है। कैसे ? व्यञ्जनात्मक साधारणीकरण व्यापार द्वारा। लोक में रोमाञ्च आदि रति प्रतीतिकारक बहुधा देखे गये होते हैं तथापि वे उस लौकिक सीमा देश काल आदि का परित्याग करके उस नट में रति का बोध कराते हैं। इसमें सहृदय की अपनी आत्मा भी अनुप्रविष्ट रहती है; क्योंकि वह भी उस वासना से वासित रहता है। इसलिए रसप्रतीति न तटस्थरूप होती है न नियतकारणरूप। न तो नियत स्व-परगत होती है जिससे द्वेषादि की उत्पत्ति हो। इसलिए विभावादि से साधारणीभूत एक ही संविद् की गोचरीभूत रति ही शृङ्गार कही जाती है। साधारणी भाव कभी विभाव के प्राधान्य में, कभी अनुभाव के प्राधान्य में, कभी सञ्चारी के प्राधान्य में होता है। किन्तु रसास्वाद का उत्कर्ष इनके समप्राधान्य में ही देखा जाता है। वह तो प्रबन्ध और विशेष कर दशरूपकों में ही पाया जाता है। तद्रूपणा से वेश-भूषा आदि के औचित्य से काव्य में भी पाया जाता है। विमल प्रतिभाशाली सहृदय के लिए तो काव्य भी व्युत्पत्ति-प्रीतिजनक होता है किन्तु स्वल्प बुद्धि के लिए नाट्य ही हृदय में निर्मलता का आधायक होता है। यही नहीं, सहृदयों को भी नाट्य से और भी अधिक नैर्मल्याधान होता है। अतएव नाट्य ही रस है, आगे अभिनव ने प्रतिपादित किया है। लोचन में रस के प्रति अभिनव ने इस प्रकार कहा है—

एवं हि लोकगत चित्तवृत्त्यनुमानमात्रमिति का रसता ! यस्त्वलौकिक चमत्कारात्मा रसास्वादः काव्यगत विभावादि चर्वणाप्राणो नासौ स्मरणानुमानादिसाम्येन खिलीकारपात्रीकर्तव्यः। किन्तु लौकिकेन कार्यकारणानुमानादिना संस्कृतहृदयो विभावादिकं प्रतिपद्यमानएव न ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते, अपि तु हृदयसंवादापरपर्याय सहृदयत्व परवशीकृततया पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमानस्मरणादि सरणिमना इवैव तन्मयी भवनोचितचर्वणाप्राणतया। न चासौ चर्वणा प्रमाणान्तरतो जाता पूर्वं, येनेदानीं स्मृतिः स्यात्। न चाधुना कुतश्चित्प्रमाणान्तरादुत्पन्ना, अलौकिके प्रत्यक्षाद्यव्यापारात्। अतएव अलौकिक एव विभावादि व्यवहारः। यदाह—विभावो विज्ञानार्थः लोके कारणमेवाभिधीयते न विभावः। अनुभावोऽप्यलौकिक एव। यदयमनुभावयति वागङ्गसत्वोऽभिनयस्तस्मादनुभाव इति। तच्चित्तवृत्तितन्मयी भवनमेवह्यनुभवनम्। लोकेतु कार्यमेवोच्यते नानुभावः। अतएव परकीयान चित्तवृत्तिर्गम्यत इत्यभिप्रायेण 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति सूत्रे स्थायिग्रहणं न कृतम्। तत्प्रत्युतशल्यभूतं स्यात्। स्थायिनस्तु रसीभाव औचित्यादुच्यते, तद्विभावानुभावोचितचित्तवृत्तिसंस्कार सुन्दरचर्वणोदयात्। हृदयसंवादोपयोगि लोकचित्तवृत्तिपरिज्ञानावस्थाया मुद्यानपुलकादिभिः स्थायिभूतरत्याद्यवगमाच्च। व्यभिचारी तु चित्तवृत्त्यात्मत्वेऽपि मुख्य चित्तवृत्तिपरवश एव चर्व्यत इति विभावानुभावमध्ये गणितः। अतएव रस्यमानताया एषैव निष्पत्तिः। यत्प्रबन्ध प्रवृत्त बन्धुसमागमादिकारणोदित हर्षादिलौकिक चित्तवृत्तिन्यग्भावेन चर्वणारूपत्वम्। अतश्चर्वणात्राभिव्यञ्जनमेव, न तु ज्ञापनम्, प्रमाणव्यापारवत्। नाप्युत्पादनम्, हेतु व्यापारवत्।

यदि नेयं ज्ञप्तिर्नवा निष्पत्तिः, तर्हि किमेतत् ! नन्वयमसावलौकिको रसः। ननु विभावादिरत्र किं ज्ञापके हेतुरुत कारकः ! न ज्ञापको न कारकः, अपितु चर्वणोपयोगी। ननु क्वैतद्दृष्टमन्यत्र ! यतएव न दृष्टम्, ततएवालौकिक मित्युक्तम्। नन्वेवं रसोऽप्रमेयःस्यात् ! अस्तु; किं ततः ! तच्चर्वणात एव प्रीतिव्युत्पत्तिसिद्धेः, किमन्यदर्थनीयम्। नन्वप्रमाणकमेतत्; न, स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। ज्ञानविशेषस्यै चर्वणात्मत्वात् इत्यलं बहुना। अतश्च रसोऽयमलौकिकः। लोचन, पृ० १६२—४।

इस प्रकार रस के विकास में आचार्य अभिनवगुप्त का सबसे बड़ा योगदान रहा है। उन्होंने रस को नाट्य और काव्य का विषय बनाकर रचना में उसे सर्वोपरि स्थान प्रदान किया तथा रस के विषय में स्थायी को रस से पृथक् रूप में सिद्ध कर रस की सुचारु व्याख्या की। सामाजिक में रसप्रतीति को बतलाकर पूर्ववर्ती आचार्यों की उपस्थापित समस्या का समाधान किया, साथ ही रसास्वाद के योग्य पात्र का भी निर्देश किया। रस की अलौकिकता सिद्ध कर उसे अर्थात् नाट्य रस की लोक से विलक्षणता स्थापित की जो सर्वथा उचित है। काव्यानुभूति में गुणालङ्कार आदि की भी समुचित योजना को उन्होंने महत्त्व दिया। अभिव्यञ्जना को रस की चर्वणा का मुख्य आधार एवं स्थायी की संस्कारात्मक व्याख्या कर रस को मनोवैज्ञानिक आधार पर परखने का

भी कार्य अभिनव ने ही किया। अन्ततः उसके बाधक तत्त्वों का निरास के शिवत्व तक पहुँचाने का श्रेय उन्हें ही है। अभिनव के रस की दार्शनिक मीमांसा डॉ० कान्ति-चन्द्र पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ में की है। वस्तुतः अभिनव-सिद्धान्त की व्याख्या शैवागम में ही उचित रूप से संभव है।